संस्कार का अर्थ और उसके प्रकारों की विवेचना

TOPIC- Samskaras

Dr. Manoj Kumar
Assistant Professor (Guest)
Dept. of A.I.H. & Archaeology,
Patna University, Patna-800005

P.G./ M.A. IInd Semester ,

Dept. of A.I.H.& Archaeology. Patna University

Paper- C.C.-5, SOCIAL –ECONOMIC HISTORY OF ANCIENT INDIA

संस्कार शब्द का मूल अर्थ है, 'शुद्धीकरण'। मूलतः संस्कार का अभिप्राय उन धार्मिक कृत्यों से था जो किसी व्यक्ति को अपने समुदाय का पूर्ण रुप से योग्य सदस्य बनाने के उद्देश्य से उसके शरीर, मन और मस्तिष्क को पवित्र करने के लिए किए जाते थे, इसके अतिरिक्त हिंदू संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति में अभीष्ट गुणों को जन्म देना भी था। 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'संस्कार' शब्द बनता है। पूर्वाचार्यों ने संस्कार शब्द का विभिन्न अर्थों में उपयोग किया है। यथा: मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार संस्कारों से द्विजों के गर्भ और बीज के दोषादि की शुद्धि होती है। कुमारिल भट्ट (ई. आठवीं सदी) ने तन्त्रवार्तिक ग्रंथ में इसके कुछ भिन्न विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार मनुष्य दो प्रकार से योग्य बनता है – पूर्व- कर्म के दोषों को दूर करने से और नए गुणों के उत्पादन से। संस्कार ये दोनों ही काम करते हैं।

प्राचीनता: वैदिक साहित्य में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। ऋग्वेद में संस्कारों का उल्लेख नहीं है, किन्तु इसके कुछ सूक्तों में विवाह, गर्भाधान और अंत्येष्टि से संबंधित कुछ धार्मिक कृत्यों का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में केवल श्रौत यज्ञों का उल्लेख है, इसलिए इस ग्रंथ के संस्कारों की विशेष जानकारी नहीं मिलती। अथर्ववेद में विवाह, अंत्येष्टि और गर्भाधान संस्कारों का पहले से अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। गोपथ ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में उपनयन, गोदान संस्कारों के धार्मिक कृत्यों का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद में शिक्षा समाप्ति पर आचार्य की दीक्षान्त संस्कार के विषय मे जानकारी मिलती है। अर्थात् गृह्यसूत्रों से पूर्व संस्कारों के पूरे नियम नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि गृहसूत्रों से पूर्व पारम्परिक प्रथाओं के आधार पर ही संस्कार होते थे। सर्वप्रथम गृहसूत्रों में ही संस्कारों की सम्पूर्ण पद्धति का वर्णन मिलता है। किन्तु इनमें भी संस्कार शब्द का प्रयोग यज्ञ सामग्री के पवित्रीकरण के अर्थ में किया गया है। वैखानस स्मृति सूत्र (200 से 500 ई.) में

सबसे पहले शरीर संबंधी संस्कारों और यज्ञों में स्पष्ट अन्तर मिलता है। गृह्यसूत्रों में संस्कारों के वर्णन में सबसे पहले विवाह संस्कार का उल्लेख है। इसके बाद गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जात- कर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्न- प्राशन, चूड़ा- कर्म, उपनयन और समावर्तन संस्कारों का वर्णन किया गया है।

संस्कार के प्रकार : गौतम धर्मसूत्र में संस्कारों की संख्या 40 है। मनु ने तेरह संस्कारों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने भी इन्हीं संस्कारों का वर्णन किया है। केवल केशांत का वर्णन उसमें नहीं मिलता है । महर्षि अंगिरा ने पच्चीस संस्कारों का वर्णन किया है। व्यास स्मृति में सोलह संस्कारों का वर्णन हुआ है।स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी संस्कार विधि तथा पंडित भीमसेन शर्मा ने अपनी षोडश संस्कार विधि में सोलह संस्कारों का ही वर्णन किया है। इन दोनों लेखकों ने अंत्येष्टि को सोलह संस्कारों में सम्मिलित किया है।

अन्तर्गर्भ संस्कार : गर्भ संस्कार को दोष मार्जन अथवा शोधक संस्कार भी कहा जाता है। दोष मार्जन संस्कार का तात्पर्य यह है कि शिशु के पूर्व जन्मों से आये धर्म एवं कर्म से सम्बन्धित दोषों तथा गर्भ में आई विकृतियों को पवित्र करने के लिये संस्कार किये जाते हैं।

1.गर्भाधान : हमारे शास्त्रों में गृहस्थ जीवन में प्रवेश के उपरान्त प्रथम कर्त्तव्य के रूप में इस संस्कार को मान्यता दी गई है। गृहस्थ जीवन का प्रमुख उद्देश्य, श्रेष्ठ सन्तानोत्पत्ति है। उत्तम संतति की इच्छा रखनेवाले माता-पिता को गर्भाधान से पूर्व अपने तन और मन की पवित्रता के लिये, यह संस्कार करना चाहिए।

2. पुंसवन : गर्भस्थ शिशु के मानसिक विकास की दृष्टि से यह संस्कार अत्यंत उपयोगी समझा जाता है। गर्भाधान के दूसरे या तीसरे महीने में इस संस्कार को करने का नियम है। गर्भ के तीसरे माह में विधिवत पुंसवन संस्कार सम्पन्न कराया जाता है, क्योंकि इस समय तक गर्भस्थ शिशु के विचार तंत्र का विकास प्रारंभ हो जाता है । वेद मंत्रों, यज्ञीय वातावरण एवं संस्कार सूत्रों की प्रेरणाओं से शिशु के मानस पर तो श्रेष्ठ प्रभाव पड़ता है, साथ ही अभिभावकों और परिजनों को भी यह प्रेरणा मिलती है कि भावी माँ के लिए श्रेष्ठ मनःस्थिति और परिस्थितियाँ कैसे विकसित की जाए ।

3. सीमान्तोन्नयन : सीमान्तोन्नयन को सीमान्तकरण अथवा सीमान्त संस्कार भी कहते हैं। सीमान्तोन्नयन का अभिप्राय है सौभाग्य संपन्न होना। गर्भपात से रक्षा हेतु , साथ-साथ गर्भस्थ शिशु एवं उसकी माता की रक्षा करना भी इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है। इस संस्कार के माध्यम से गर्भिणी स्त्री का मन प्रसन्न रखने के लिये सौभाग्यवती स्त्रियां गर्भवती की मांग भरती हैं। यह संस्कार गर्भ धारण के छठे अथवा आठवें महीने में होता है।

4. जातकर्म : नवजात शिशु के नालच्छेदन से पूर्व इस संस्कार को करने का विधान है। इस दैवी जगत् से प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले बालक को दो बूंद घी तथा छः बूंद शहद का सम्मिश्रण अभिमंत्रित कर चटाने के बाद पिता यज्ञ करता है तथा नौ मन्त्रों का विशेष रूप से उच्चारण के बाद बालक को बुद्धिमान, बलवान, स्वस्थ एवं दीर्घजीवी होने की प्रार्थना करता है। इसके बाद माता बालक को स्तनपान कराती है।

5. नामकरण : जन्म के ग्यारहवें दिन यह संस्कार होता है। हमारे धर्माचार्यो ने जन्म के दस दिन तक अशौच (सूतक) माना है। इसलिये यह संस्कार ग्यारहवें दिन करने का विधान है। महर्षि याज्ञवल्क्य का भी यही मत है, लेकिन अनेक कर्मकाण्डी विद्वान इस संस्कार को शुभ नक्षत्र अथवा शुभ दिन में करना उचित मानते हैं। नामकरण संस्कार का सनातन धर्म में अधिक महत्व है। हमारे मनीषियों ने नाम का प्रभाव इसलिये भी अधिक बताया है क्योंकि यह व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है।

6. निष्क्रमण : दैवी जगत् से शिशु की प्रगाढ़ता बढ़े तथा ब्रह्माजी की सृष्टि से वह अच्छी तरह परिचित होकर दीर्घकाल तक धर्म और मर्यादा की रक्षा करते हुए इस लोक का भोग करे यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है । निष्क्रमण का अर्थ है बाहर निकलना। इस संस्कार में शिशु को सूर्य तथा चन्द्रमा की ज्योति दिखाने का विधान है। भगवान भास्कर के तेज तथा चन्द्रमा की शीतलता से शिशु को अवगत कराना ही इसका उद्देश्य है। जन्म के चौथे महीने में इस संस्कार को करने का विधान है। तीन माह तक शिशु का शरीर बाहरी वातावरण यथा तेज धूप, तेज हवा आदि के अनुकूल नहीं होता है इसलिये प्राय: तीन मास तक उसे बहुत सावधानी से घर में रखना चाहिए। इसके बाद धीरे-धीरे उसे बाहरी वातावरण के संपर्क में आने देना चाहिए।

7. अन्नप्राशन : इस संस्कार का उद्देश्य शिशु के शारीरिक व मानसिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करना है। अन्नप्राशन का स्पष्ट अर्थ है कि शिशु जो अब तक पेय पदार्थो विशेषकर दूध पर आधारित था अब अन्न जिसे शास्त्रों में प्राण कहा गया है उसको ग्रहण कर बालक , शारीरिक व मानसिक रूप से बलवान व प्रबुद्ध बने। हमारे धर्माचार्यो ने अन्नप्राशन के लिये जन्म से छठे महीने को उपयुक्त माना है। छठे मास में शुभ नक्षत्र एवं शुभ दिन देखकर यह संस्कार करना चाहिए। खीर और मिठाई से शिशु के अन्नग्रहण को शुभ माना गया है। क्षीरभोजनम् (चावल+दूध+जल+गुड़ को गर्म करने से निर्मित) हमारे शास्त्रों में खीर को अमृत के समान उत्तम माना गया है। जिसे मां के भाई के हाथों से बच्चे को खिलाया जाता है ।

8. चूड़ाकर्म : चूड़ाकर्म को मुंडन संस्कार भी कहा जाता है। हमारे आचार्यो ने बालक के पहले, तीसरे या पांचवें वर्ष में इस संस्कार को करने का विधान बताया है। मुंडन संस्कार का

अभिप्राय है कि जन्म के समय उत्पन्न अपवित्र बालों को हटाकर बालक को प्रखर बनाना है। नौ माह तक गर्भ में रहने के कारण कई दूषित किटाणु उसके बालों में रहते हैं। मुंडन संस्कार से इन दोषों का सफाया होता है।

9. कर्णवेधन : बालक की शारीरिक व्याधि से रक्षा ही इस संस्कार का मूल उद्देश्य है। कर्ण बेधन से रोग दूर होते हैं तथा श्रवण शक्ति भी बढ़ती है। इसके साथ ही कानों में आभूषण हमारे सौन्दर्य बोध का परिचायक भी है। यज्ञोपवीत के पूर्व इस संस्कार को करने का विधान है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार शुक्ल पक्ष के शुभ मुहूर्त में इस संस्कार का सम्पादन श्रेयस्कर है।

10. यज्ञोपवीत /उपनयन : यज्ञोपवीत शब्द, यज्ञ+उपवीत दो शब्दों के योग से बना है ।उपनयन संस्कार में जिसमें बालक को जनेऊ धारण करवाया जाता है। इस संस्कार के द्वारा पिता, पुत्र को शिक्षित करने हेतु गुरु के हाथों में सौंप देता था । जिसके द्वारा गुरु , बालक को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करता था तथा बालक के रक्षा एवं एक योग्य ,ज्ञानी व्यक्ति बनाने का वचन देता था । इस प्रकार यह संस्कार , बालक के द्वितीय जन्म तथा दूसरे पिता के रूप में गुरु का निर्धारण करता है , यज्ञोपवित के पश्चात ही बालक को द्विज कहा जाता है । मुंडन और पवित्र जल में स्नान भी इस संस्कार के अंग होते हैं। सूत के धागे से बना यह पवित्र धागा जिसे यज्ञोपवीतधारी व्यक्ति बाएँ कंधे के ऊपर तथा दाईं भुजा के नीचे पहनता है। तीन सूत्र हिंदू त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश अथवा सत, रज एवं तम के प्रतीक होते हैं। अपवित्र होने पर यज्ञोपवीत बदल लिया जाता है। बिना यज्ञोपवीत धारण कये अन्न जल ग्रहण नहीं किया जाता। यज्ञोपवीत धारण करने का मन्त्र है- यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।आयुष्यमग्रं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।। इसके बाद बालक विशेष अध्ययन के लिये गुरुकुल जाता था। यज्ञोपवीत से ही बालक को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी जाती थी जिसका पालन गृहस्थाश्रम में आने से पूर्व तक किया जाता था। इस संस्कार का उद्देश्य था संयमित जीवन के साथ आत्मिक विकास में रत रहने के लिये बालक को प्रेरित करना । गुरुकुल हेतु ब्राह्मण को सूत का, क्षत्रिय को ऊन का तथा वैश्य को सन की रस्सी का जनेऊ पहनने का नियम है जिससे गुरु को उनके वर्ण की पहचान होती थी कि उन्हें किस विद्या में निपुण करना है ।

11. अक्षरारम्भ/विद्यारम्भ : विद्यारम्भ का अभिप्राय बालक को शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर से परिचित कराना है। प्राचीन काल में जब गुरुकुल की परम्परा थी तो बालक को वेदाध्ययन के लिये भेजने से पहले घर में अक्षर बोध कराया जाता था। माँ-बाप तथा गुरुजन पहले उसे मौखिक रूप से श्लोक, पौराणिक कथायें आदि का अभ्यास करा दिया करते थे ताकि गुरुकुल में कठिनाई न हो।

12 .समावर्तन : गुरुकुल से विदाई लेने से पूर्व शिष्य का समावर्तन संस्कार होता था। इस संस्कार से पूर्व ब्रह्मचारी का केशान्त संस्कार होता था और फिर उसे स्नान कराया जाता था। यह स्नान समावर्तन संस्कार के तहत होता था। इसमें सुगन्धित पदार्थो एवं औषधादि युक्त जल से भरे हुए वेदी के उत्तर भाग में आठ घड़ों के जल से स्नान करने का विधान है। यह स्नान विशेष मन्त्रोच्चारण के साथ होता था। इसके बाद ब्रह्मचारी मेखला व दण्ड को छोड़ देता था जिसे यज्ञोपवीत के समय धारण कराया जाता था। इस संस्कार के बाद उसे विद्या स्नातक की उपाधि आचार्य देते थे। इस उपाधि से वह सगर्व गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी समझा जाता था। सुन्दर वस्त्र व आभूषण धारण करता था तथा आचार्यो एवं गुरुजनों से आशीर्वाद ग्रहण कर अपने घर के लिये विदा होता था।

गृहस्थ जीवन से सम्बंधित संस्कार

13. विवाह : प्राचीन काल से ही स्त्री और पुरुष दोनों के लिये यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार है। वेदाध्ययन के बाद जब युवक में सामाजिक परम्परा निर्वाह करने की क्षमता व परिपक्वता आ जाती थी तो उसे गृहस्थ धर्म में प्रवेश कराया जाता था। "जब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहता था तब तक उसे धार्मिक कार्य करने, समाज के बड़े लोगों में निर्णय देने , किसी दूसरे के घर में प्रवेश से वर्जित किया जाता था ।" अतः पच्चीस वर्ष आयु ग्रहण कर लेने के उपरान्त ब्रह्मचर्य के व्रत को त्यागकर युवक परिणय सूत्र में बंधता था जिसे विवाह संस्कार कहा जाता था । वि + वाह का अर्थ है , जीवन से संबंधित विशिष्ट ज़िम्मेदारियों का वहन करना । हमारे शास्त्रों में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है- प्रशस्त विवाह : ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य तथाअप्रशस्त विवाह : असुर, गन्धर्व, राक्षस एवं पैशाच। वैदिक काल से पूर्व जब हमारा समाज संगठित नहीं था तो उस समय उच्छृंखल यौनाचार था। हमारे मनीषियों ने इस उच्छृंखलता को समाप्त करने के लिये विवाह संस्कार की स्थापना करके समाज को संगठित एवं नियमबद्ध करने का प्रयास किया। आज उन्हीं के प्रयासों का परिणाम है कि हमारा समाज सभ्य और सुसंस्कृत है। समाज में यह लोक मत है कि विवाह के द्वारा ही पुरुष पूर्णता को प्राप्त होता है , समाज के निर्णयों में उसके मत को सुनना तथा धार्मिक कार्यों एवं उत्सवों का उसे अधिकारी माना जाता है। विवाह के उपरांत श्रेष्ठ संतति पैदा करना , उसका पालन-पोषण , अनुशासन , सामाजिकता का बोध कराना , परिवार और समाज की जिम्मेदारियों को वहन करना, पुरुष का नैतिक दायित्व था । वस्तुतः मनुष्य के पुरुषार्थ के अंतर्गत अर्थ एवं काम तथा आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत गृहस्थ आश्रम का पालन, विवाह संस्कार से ही संबंधित है।

14. वानप्रस्थ : संस्कार वृद्धावस्था में धर की त्याग कर वन की ओर प्रस्थान करने के समय आयोजित किया जाता था। यदि पति के साथ उसकी पत्नी भी वानप्रस्थ में जाना चाहे तो

पति उसे अपने साथ ले जा सकता था अन्यथा पत्नी को अपने पुत्र और नाती-पोतों के पास छोड़कर स्वयं वन की ओर प्रस्थान करता था। ब्राह्मण गृहस्थ वानप्रस्थ में जाते ही थे किन्तु क्षत्रिय राजा भी सिंहासन त्याग कर वानप्रस्थ में किया करते थे। वानप्रस्थ में जाते समय पुरुष अपनी सन्तानों को अपने साथ नहीं ले जा सकता था। वह अपनी पत्नी को भी अपने साथ वन में चलने के लिए विवश नहीं कर सकता था। यदि पत्नी चाहे तो स्वेच्छा से पति के साथ वन-गमन कर सकती थी। प्राय: पत्नी पति के साथ वानप्रस्थ में प्रवेश किया करती थी। वह पति के साथ रहती हुई पति की सेवा-सुश्रूषा करती थी तथा ईश्वर की आराधना करती थी। यदि आश्रम में विद्यार्थी रहते थे तो उनकी देख-भाल भी करती थी। आश्रम की आन्तरिक व्यवस्था का दायित्व भी प्राय: उसी पर रहता था।

वन में कुटी बना कर रहते हुए वह पंचमहायज्ञ करता था। कन्द, मूल, फल का भोजन करते हुए तथा चर्म के वस्त्र पहन कर शेष जीवन व्यतीत करता था। आश्रम अथवा कुटी में रहते हुए वह आगन्तुकों एवं अतिथियों का स्वागत-सत्कार वानप्रस्थ में तप और स्वाध्याय में समय व्यतीत करना अधिक उत्तम माना करता जाता था। मनुस्मृति के अनुसार-"वानप्रस्थ में रहते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह सभी जीवों के प्रति दया का व्यवहार करे।" अर्थात् वानप्रस्थ समभाग से शेष जीवन व्यतीत करने का समय होता था जिसे वानप्रस्थ संस्कार अर्थात् वन के लिए विधि- विधानपूर्वक प्रस्थानित होने के द्वारा प्रारम्भ किया जाता था।

15. संन्यास : वानप्रस्थ के बाद संन्यास में प्रविष्ट होने के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त संन्यासी जीवन व्यतीत करने की जीवन-पद्धति को संन्यास आश्रम कहते थे। संन्यास लेते समय व्यक्ति अपने गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के समय के मानवीय बन्धनों से मुक्त ही जाता था तथा पूर्णरूप से ईश्वर की आराधना में प्रवृत्त हो जाता था । संन्यासियों के लिए पंचमहायज्ञ का अनुष्ठान करना आवश्यक नहीं होता था क्योंकि वे पहले ही ऋन सबसे उऋण हो चुके होते थे तथा सांसारिक कर्मों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं हता था। संन्यासी हो जाने पर वे ईश्वर के बारे में चिन्तन, मनन तथा धार्मिक ग्रन्थों पाठे स्वाध्याय के रूप में करते थे। संन्यासी स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं ठहरते थे। उन्हें भ्रमण करते रहना पड़ता था। वैदिक नियमों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्ण में संन्यास ग्रहण करने का अधिकार मात्र की ही था। जैन तथा बौद्ध धर्म में सभी वर्गों के व्यक्तियों को संन्यास ग्रहण करने का अधिकार दिया गया। इन दोनों धर्मों के अनुसार कोई भी व्यक्ति भिक्ष अथवा मुनि बन सकता था। वैदिक परम्परा में लगभग सत्तर से पचहत्तर वर्ष की में संन्यास ग्रहण किया जा सकता था । मनुस्मृति के अनुसार- " जो मनुष्य आयु तीनों ऋण (देवऋण, पितृतऋण तथा ऋषिऋण) से उऋण हो चुका हो, वही मोक्ष- प्राप्ति के उद्देश्य से संन्यास ग्रहण करे। तीनों ऋणों से उकण हुए बिना यदि कोई मोक्ष की कामना से संन्यास ग्रहण कर लेता है तो वह नरक का भागी बनता है।"

संन्यास काल में राग, द्वेष, माया, मोह आदि का कोई स्थान नहीं था बौद्ध धर्म के अन्तर्गत भिक्षु बन जाने के बाद व्यक्ति सांसारिकता से निर्लिस होकर शेष जीवन व्यतीत करता था । जैन मुनियों के लिए 'कैवल्य' आदर्श स्थिति थी। अलबरूनी के अनुसार-" संन्यासी

भ्रमण करते हुए किसी एक गाँव में एक दिन से अधिक नहीं ठहरते थे तथा नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं ठहरते थे । उन्हें जो भिक्षा मिलती उसमें से बचा कर अगले दिन के लिए नहीं रखते थे वे जन्म-मरण के बन्धन से होने का प्रयास करते रहते थे "

संन्यासी भिक्षा में मिलने वाले खाद्य-पदार्थों से पेट भरते थे तथा मोक्ष के लिए साधना करते हुए जग के कल्याण का उपदेश देते थे। संन्यासियों की सेवा करना तथा उन्हें भिक्षा एवं दान देना गृहस्थों का विशेष दायित्व होता था। संन्यासियों की सेवा करना गृहस्थों के लिए पुण्यकार्य माना जाता था।

वैदिक परम्परा में स्त्रियों को संन्यास लेने का अधिकार नहीं था। वे संन्यासिनी नहीं बन सकती थीं यद्यपि अपवाद के रूप में गार्गी, मैत्रेयी, घोषा आदि स्त्रियों के नाम उपनिषदों में मिलते हैं जिन्होंने संन्यासिनों का जीवन व्यतीत किया। स्त्रियों को पहली बार संन्यास लेने का अधिकार बुद्ध ने प्रदान किया। वे भिक्षुणी बन सकती थीं। बौद्ध धर्म में स्त्रियों के लिए भिक्षणी संघ की स्थापना की गई। बौद्धकाल के बाद मौर्यकाल में भिक्षुणी अथवा परिव्राजिका को उचित नहीं माना जाता था। कौटिल्य भी स्त्रियों के परिव्राजिका बनने के पक्ष में नहीं था। इसका कारण भिक्षुणी संघों में आने वाले दोष थे। फिर भी स्त्रियाँ परिव्राजिक बनती रहीं।

16. अन्त्येष्टि संस्कार : अन्त्येष्टि को अंतिम अथवा अग्नि परिग्रह संस्कार भी कहा जाता है। आत्मा में अग्नि का आधान करना ही अग्नि परिग्रह है। धर्मशास्त्रों की मान्यता है कि मृत शरीर की विधिवत् क्रिया करने से जीव की अतृप्त वासनायें शान्त हो जाती हैं। जब तक जीव शरीर धारण कर इहलोक में निवास करता है तब तक वह विभिन्न कर्मो से बंधा रहता है। प्राण छूटने पर वह इस लोक को छोड़ देता है। उसके बाद की परिकल्पना में विभिन्न लोकों के अलावा मोक्ष या निर्वाण है। मनुष्य अपने कर्मो के अनुसार ही फल भोगता है। इसी परिकल्पना के तहत मृत देह की विधिवत क्रिया होती है , जिससे मृतात्मा को शांति मिले । इस क्रिया के बाद 13 दिवस तक दुखी परिवार को धीरे धीरे सांसारिक कार्यों में संलग्न कराया जाता है ताकि जीवित सदस्यों का वो ख्याल रख सके ।

इस प्रकार संस्कार व्यक्ति के जीवन पद्धति को एक स्वरूप प्रदान करता है जिससे उसके अन्दर नैतिकता , आध्यात्मिक ,सामाजिक उन्नति की प्रगति होती है तथा समाज की ज़िम्मेदारी को कैसे निर्वहन करना चाहिए , कब और कैसे करना चाहिए इसका भी बोध संस्कार कराते है ।